

सिर्फ जिंदा रहे हम, तो मर जाएंगे

- अमित मिश्रा

पिछले दिनों कुछ ऐसे अनुभव हुए जिन्होंने जिंदगी की रफ्तार धीमी कर दी, सोचने के तरीकों को बदल दिया, अपनों से दूर किया और अजनबियत को बढ़ा दिया। शायद ही हम सामान्य लोगों ने अपने सबसे डरावने सपनों में भी कभी यह सोचा हो कि सभ्यता के विकास क्रम में जब हम अपने सबसे उच्चतम पायदान पर होंगे और स्वयं को सर्वश्रेष्ठ साबित कर प्रकृति से ही होड़ में लगे होंगे तो तब एकाएक कुछ ऐसा घटित होगा जो हमें फिर से स्वयं से रू-ब-रू होने का मौका देगा।

आसान नहीं है कुछ ऐसे अनुभवों के बारे में लिखना जिनसे जुड़े निष्कर्ष अभी भी संदेह के घेरे में हैं। ऐसे अनुभव जिनके असर की गहराई और दूरी का अभी ठीक-ठीक अंदाजा लगाना भी मुश्किल है। ऐसे अनुभव जिन्होंने जिन्दगी की रफ्तार धीमी कर दी, सोचने के तरीकों को बदल दिया, अपनों से दूर किया और अजनबियत को बढ़ा दिया। शायद ही हम सामान्य लोगों ने अपने सबसे डरावने सपनों में भी कभी यह सोचा हो कि सभ्यता के विकास क्रम में जब हम अपने सबसे उच्चतम पायदान पर होंगे और स्वयं को सर्वश्रेष्ठ साबित कर प्रकृति से ही होड़ में लगे होंगे तो तब एकाएक कुछ ऐसा घटित होगा जो हमें फिर से स्वयं से रू-ब-रू होने का मौका देगा। तब पूरी दुनिया हमारे लिए एक हमाम बन जाएगी और उस हमाम में एक ऐसा आदमकद आईना होगा जिससे नजरें मिलाने के सिवा हमारे पास कोई और चारा नहीं होगा। फिर इस आईने में हम अपने उन रूपों को देख सकेंगे जिनके बारे में कभी सोचा भी नहीं था। तो मेरे आईने ने जो दिखाया, बतलाता हूँ—

‘जो गुजारी न जा सकी हमसे,
हमने वो जिन्दगी गुजारी है।’

जॉन ऐलिया साहब ने किन हालातों में यह कहा होगा ये तो वो ही जानें, लेकिन आज जब पिछले कुछ महीनों को देखता हूँ तो ये पंक्तियां अपने लिए बहुत ही मौजू जान पड़ती हैं। जब यह प्रस्ताव आया कि इस वक्त से जुड़े अपने अनुभवों को लिखना है तो लगा आसान काम है, लिख लेंगे। झट से हामी भी भर दी और प्रयास भी शुरू किया। लेकिन लिखने के दौरान एक बार फिर से यह



फोटो: पुरुषोत्तम ठाकुर

एहसास हुआ कि जो अनचाहे ही भोगा जाता है उसे लिखना इतना आसान भी नहीं। तभी कितनी बार लिखने की कोशिश की और कितनी बार लिखते-लिखते रह गया, इसका हिसाब नहीं है। फिर अभी संयोग से जॉन-ऐलिया साहब को पुनः सुनने के दौरान इन पंक्तियों ने एक बार फिर से वो ताकत दी कि एक कोशिश और की जाए। तो पिछली होली से इस दीवाली तक जिंदगी कुछ ऐसे ही गुजरी है, जो मुड़ के देखने पर लगता है कि हमने ऐसे कैसे गुजार दी! और फिर अभी कब तक ऐसे ही और गुजारनी है।

अक्सर जेलों में गंभीर अपराध करने वाले लोगों या फिर दुर्दांत कैदियों को अकेले में छोटी-संकरी-अंधेरी काल-कोठरियों में रखा जाता है। वे दिनों से लेकर महीनों तक अन्य किसी से भी मिल नहीं पाते, यहाँ तक कि सूरज की रोशनी और ताजी हवा के लिए भी तरस जाते हैं। यह बात तब याद आयी जब दुनियाभर में लॉकडाउन का सिलसिला शुरू हुआ। पहली फीलिंग

यही आयी कि हो न हो यह इंसानों को उनके दुर्लभतम अपराधों की भयंकर सजा देने का ही एक रूप है। जो हुआ वो क्यों और कैसे हुआ इससे जुड़ी हकीकत शायद ही कभी सामने आए, लेकिन एक बात तो तय है कि यह प्रकृति का अपना तरीका था हम मानवों की इस अहमन्य प्रजाति को प्राथमिक चेतावनी देने का कि हम इस ब्रह्मांड में मौजूद करोड़ों-करोड़ जीवों में से ही एक जीव मात्र हैं, और हमें कोई हक नहीं स्वयं को श्रेष्ठ कहने का। श्रेष्ठ काल है और सर्वश्रेष्ठ उस काल की गति को नियंत्रित करती प्रकृति!

बात यहीं तक हो के रह जाती तो भी गनीमत थी कि चलो कुछ अपराध किया, उसका दण्ड भुगत लिया या फिर प्रायश्चित्त कर लिया। लेकिन यहां तो जहां एक ओर सजा की मियाद बढ़ रही थी वहीं दूसरी तरफ इसकी भयंकरता भी। कोरोना से जुड़े समाचार और वीडियो हर बीतते दिन के साथ और भी भयावह होते जा रहे थे और हम स्वयं को किंकर्तव्यविमूढ़ पा रहे थे। माहौल कुछ इस तरह का था जैसे निरीह जनता सहमी सिकुड़ी सी किसी दुश्मन सेना के हर बीतते दिन के साथ और नजदीक आ जाने और स्वयं के उसके शिकंजे में फंसते जाने के साथ आने वाले अवश्यंभावी संकट की राह देख रही हो। जो कोरोना कुछ दिनों पहले तक दूसरे देशों में था वो पहले देश के एक कोने में आया, फिर राजधानी और महानगरों में आया, फिर राजस्थान के बाकी जिलों में पैर पसारने लगा और नजदीक से नजदीकतर होता चला गया। इस दौरान अफवाहें भी इसी दर से फैलती रहीं और प्रशासन की कड़ाइयां भी।

पहले तले पर स्थित तीन कमरों के अपेक्षाकृत थोड़े बड़े मकान में लॉकडाउन के शुरुआती दो महीने अकेले बिताना एक मुश्किल काम था। मुझे याद है लॉकडाउन वाले दिन के बाद मैं पहली बार नीचे तभी उतरा था जब फाउंडेशन की ओर से सहायता सामग्री वितरण के लिए प्रशासन के आदेश की आवश्यकता पड़ी। इससे पहले के लगभग 30 दिन मैंने या तो बालकनी से या छत से ही जितनी नजर आई उतनी दुनिया देखने की कोशिश की। ये दिन कैसे गुजरे ठीक ठीक याद नहीं। इस दौरान चाय लगभग छूट सी गई। जबकि कभी हम अपने चाय प्रेम के लिए जाने जाते थे और ग्रेजुएशन के दौरान तो हम लोगों की मंडलियां आधी रात के करीब चाय की दुकानों पर सजती थीं और पौ फटने से पहले मजाल नहीं कि हम वहाँ

से टलें। तो इस दौरान दूध की अनुपलब्धता ने काली चाय की ओर पुश किया लेकिन ये चाय रास नहीं आई और फिर चाय लगभग छूट सी गई। अब जबकि माहौल सामान्य होने की ओर अग्रसर है और जीवन संगिनी भी वापस आ गई हैं, फिर भी चाय की वो तलब कहीं पीछे ही छूट गई।

तो ये दो महीने हम पूरी तरह से दाल और चावल पर निर्भर रहे क्योंकि हमें कुछ और बनाना नहीं आता था, भला हो अचार का जो न जाने दिमाग की कौन सी बत्ती जल जाने के कारण हमने लॉकडाउन से दो-चार दिन पहले ही खरीद लिया था। तो बच्चन साहब वाले अनलॉक की प्रक्रिया शुरू होने से पहले का समय हमने इसी दाल-चावल और अचार के भरोसे काटा।

बात पापी पेट से आगे बढ़ाएं तो फिर उस दौर का जीवन किसी अजीब से दुःस्वप्न की तरह बीत रहा था। सोने और जागने का कोई खास क्रम नहीं रह गया था, चाय के बाद जिस दूसरी परिस्थिति ने सबसे अधिक निराश किया वो था किताबों में भी मन न लगना। जब लॉकडाउन की घोषणा हुई तो सोचा कि अब सुकून से किताबें पढ़ेंगे। लेकिन इस पूरे समय में जिस एक अजीब सी मनःस्थिति में हम रहे उसमें किसी भी किताब को पूरा पढ़ पाना संभव ही नहीं हुआ। ऐसा भी नहीं है कि हमने प्रयास नहीं किए, यहाँ तक कि हम उन किताबों को भी नहीं पढ़ पाए जिन्हें हम कई-कई बार पढ़ चुके थे और जिन्हें पढ़ना बेहद पसंद भी है। फिर उस दौरान के प्रयास में कोई किताब एक चौथाई पढ़ने के बाद बंद कर दी तो कोई तीन चौथाई। यह क्रम अभी भी उसी तरह जारी है और इसका परिणाम यह है कि इस वर्ष मैंने पिछले दो दशकों के अपने इतिहास में सबसे काम किताबें पढ़ी हैं, वो भी तब जब कि इनकी उपलब्धता कोई समस्या नहीं थी।

किताबों में मन न लगने के बाद एक और इससे भी महत्वपूर्ण विषय है जिसमें कि मन नहीं लगा, और वो था पत्नी के साथ फोन पर होने वाली बात। हम अक्सर जब दूर होते हैं तो फोन पर ठीक-ठाक समय बिता लेते हैं लेकिन इस बार ऐसा भी नहीं हो पाया और इसे दुरुस्त करने की सारी कोशिशें बेकार ही गईं। और इसका क्या परिणाम होता रहा होगा, इसका अनुमान आप बखूबी लगा सकते हैं।

लेकिन इन सबके साथ ही साथ कुछ न कुछ ऐसा भी हो

रहा था जो कि इस निराश करने वाली मनःस्थिति में भी जीवन को ठीक-ठाक चलने में मदद कर रही थी। ऐसे में सबसे बड़ा योगदान ऑफिस के काम और उससे जुड़ी डेडलाइन का था। दरअसल सहकर्मियों का एक छोटा समूह ऐसे काम में मुब्तिला था जिसकी डेड लाइन पहले भी एक-दो बार खिसकायी जा चुकी थी। लेकिन अब लॉकडाउन एक ऐसा मौका था जब फील्ड के काम लगभग ठप्प थे तो अब पूरा समय यहां दिया जा सकता था। अतः एक अजीब सी कैफियत में होने के बावजूद भी इस काम को तो करना ही था, और इसमें कोई बहाना भी नहीं चल सकता था। फिर इस काम ने भी बहुत दिनों तक व्यस्त रखा और कई रातें यूं ही गुजरीं।

इसी दौरान एक और नई बात हुई, हुआ यह कि वे सारे गाने जो अच्छे लगते थे अब नीरस लगने लगे थे और उन्हें सुनने का मन नहीं करता था। यहां तक कि उन पुराने गानों के वीडियो भी देखने का मन नहीं करता था जिन्हें मैं सिर्फ इसलिए देखता आया हूँ कि उन गानों के बैकग्राउंड में पहाड़ है, हिमालय है। तो अब इस अरुचि का कोई विकल्प तलाशना जरूरी लग रहा था और मैं यू-ट्यूब पे अन्य भाषाओं के गानों को ढूँढने और उनमें से कुछ अच्छा तलाशने के काम में लगा। यह मेहनत अप्रत्याशित रूप से रंग लाई और मैं हिमाचली गानों के करीब पहुंचा, इसके बाद तो फिर आने वाले दिन और महीने में इन्हीं गीतों को सुनता रहा और शिमला जाने के ख्वाब देखता रहा। यह प्रक्रिया अभी भी जारी है, और जिन गीतों ने सबसे अधिक बांध रखा है उनमें से दो हैं 'चंबा कितनी दूर' और 'बाँगड़ियाँ'। इन गानों ने भी उदासी और बोझिलता को कुछ हद तक दूर रखने में मदद की, फिर तो हमने हिमाचली गीतों के साथ वहाँ के नृत्य, और लोक-गीतों के साथ ही इस भाषा में बनी पिकचर भी देख डाली।

लेकिन इन सबका कतई यह मतलब नहीं था कि मैं खुद में ही सिमटा बाहर की परिस्थितियों से नावाकिफ था। यही वह समय भी था जब इस संस्था में काम करते हुए गर्व भी महसूस हुआ जब हम राहत-सामग्रियों के साथ उन लोगों तक पहुंचने का सफल प्रयास करने लगे जिन्हें सच में इसकी सबसे अधिक आवश्यकता थी। इसी दौरान यह अहसास हुआ कि घरों में कैद होकर आराम से दिन गुजार देना भी तब एक तरह की विलासिता सी नजर आने लगती है जब हम पाते हैं कि देश की एक बड़ी जनसंख्या के पास

घर बैठकर इंतजार करना जीवित या बचे रहने का एक विकल्प न होकर भूखों मर जाने का सबसे सुनिश्चित तरीका है। इस अप्रत्याशित समय को इस दौरान हुए पलायन और उन पलायनों के दौरान घट रही विचलित कर देने वाली घटनाओं ने एक काटने में न आ रही काली लंबी रात बना दिया था।

आने वाली खबरें विचलित कर रही थीं, ध्यान पूरे समय घर पर रहता था, और मैं हर दिन कोरोना के अपडेट देखते हुए राजस्थान और उत्तर-प्रदेश दोनों जगहों पर नजरें सबसे पहले गड़ाता था। ना जाने किस आशा में। लेकिन इस बात का सुकून भी था कि वहां घर पर मम्मी-पापा के साथ हमारी बेगम मौजूद हैं जो उनका ख्याल भी रख सकती हैं और उन्हें इस विषम परिस्थिति से बचाए हुए भी रख सकती हैं। उनके द्वारा ही हमें गाँव और आस-पास की खबरें और अफवाहों को भी जानने का मौका मिला। इसमें दो अफवाहों मुझे थोड़ी मनोरंजक जान पड़ीं। पहली यह कि गाँव के पास वाले बाजार में हाल ही में दिल्ली से आए एक व्यक्ति की मृत्यु का समाचार फैला और उसके बाद के घंटे भर में सारा बाजार बंद हो गया। इस तरह बंद हुआ जैसे गब्बर के आने पर पूरा रामगढ़ सन्न हो जाया करता था। इस खबर का असर शाम तक आस-पास के इलाकों में भी दिखाई देने लगा। फलस्वरूप गांवों में भी लोगों को पहली बार यह एहसास हुआ कि कोरोना खतरनाक है और जान जा सकती है। लोगों ने स्वयं को और अपनी गतिविधियों को सीमित किया। लेकिन दूसरे दिन फिर एक समाचार आया कि कल की बात अफवाह थी और जिस व्यक्ति की बात हो रही थी वह किसी और बीमारी के कारण अस्पताल में भर्ती था। इसके बाद तो लोगों ने यह मान लिया कि कोरोना उनका कुछ खास बिगाड़ नहीं पाएगी और जिन्दगी पुराने ढर्रे पर आ गई।

दूसरी घटना और भी अजीब थी। हुआ यह कि एक शाम घर से माता जी का फोन आया और मेरे फोन उठाते ही उन्होंने आदेश दिया कि मैं रामचरितमानस को खोल कर उसके अमुक कांड का हर पन्ना ध्यान से पलटूँ ऐसा करते हुए मुझे किसी पन्ने के बीच एक 'बाल' मिलेगा। और फिर मुझे उस बाल को एक गिलास पानी में मिलाकर पी जाना है। जब मैंने इसका कारण जानना चाहा तो बताया गया कि यह कोरोना से बचने का कोई

अकाट्य नुस्खा है जो कि आज शाम ही नाना जी के आदेश से घर में लागू किया जा रहा है। तो इस नुस्खे की पूरी प्रक्रिया में बाल को गंगा जल में डुबाने का भी जिक्र था, लेकिन अब मेरे पास इसकी अनुपलब्धता के कारण मुझे सादे पानी को ही गंगाजल मान लेने की हिदायत दी गई। बात अजीब थी लेकिन इस आपत्तिकाल को ध्यान में रखकर मैंने हमेशा की तरह इस बार बहस नहीं की और जो कहा गया था उसे करने की हामी भर दी। रात में पता चला कि घर पर उपस्थित रामचारितमानस की विभिन्न प्रतियों से बाल ढूँढे भी गए और उनका वही उपयोग भी किया गया। और जब हमारी बेगम साहिबा ने ऐसा करने से मना करते हुए न करने के कुछ अकाट्य तर्क दिए (जैसे कि पता नहीं किसका बाल हो, कैसे यहां तक पहुंचा हो, आदि आदि) तो लोग उनसे नाराज भी हुए। हां हमारे एक अनुज जिनके जिम्मे घर और बाहर की ढेर सारी जिम्मेदारी थी उन्हें तो दो-तीन बार इस रस का पान करना पड़ा। ये और बात है कि मेरी ससुराल में लोग इस अद्भुत संयोग का लाभ नहीं उठा पाए क्योंकि उनकी रामचारितमानस की प्रतियां गाँव के मंदिर में हो रहे रामायण पाठ के लिए गई हुई थीं।

तो जीवन कुछ इन्हीं खट्टी-मीठी छिटपुट घटनाओं के सहारे गुजर रहा था। जिसमें कुछ सुकून इस बात से मिल रहा था कि हम अपनी संस्था के बल पर ही सही पर कुछ ऐसे लोगों के काम आ रहे थे जिन्हें मदद की बेहद जरूरत थी। सुकून की दूसरी बात यह थी इस दौर में जब कि आर्थिक गतिविधियां लगभग पूरी तरह ठप्प हो चुकी थीं और लोग अपने कारोबार और नौकरियों से हाथ धो रहे थे तब भी मैं कम से कम इस एक फ्रंट पर चिंतित होने से बचा हुआ था। लेकिन गम और भी थे, अब हर बीतते दिन के साथ कोरोना और करीब होता जा रहा था। पहले अपने जानने वालों के जानने वालों तक इसके आने की खबर पहुंची, फिर यह धीरे-धीरे अपनों तक पहुंचा और एक करीबी दोस्त के साथ-साथ उनका लगभग पूरा परिवार इस मर्ज के संपर्क में आया और फिर एक दिन उनके बड़े भाई इस लड़ाई को हार गए। यह वो क्षण था जब लगा कि पूरी सावधानी बरतने के बाद भी हम बचे रह जाएंगे इसकी ही क्या गारंटी है। और फिर इस तरह की दुखद खबरों का एक सिलसिला सा शुरू हो गया कभी कोई पास का अपना कभी कोई दूर का अपना सा।

**अपने जीवन को आज ही बदल
डालो। भविष्य का जुआ मत
खेलो, बिना किसी देरी के अभी
इस काम में लग जाओ।**

– सिमोन द बोउवा

आलम यह है कि डर और संशय फिलहाल जीवन के स्थायी भाव बन चुके हैं। इसी बीच स्थानान्तरण के कारण बाड़मेर से जयपुर आना हुआ है, और अब इस शहर में भी कुछ महीने बीत चुके हैं। लेकिन न तो हम इस शहर को जरा सा भी जान पाए हैं और ना ही अपने यहां होने की कानों-कान खबर ही शहर को होने दी है। बस एक काम है जिसने जीवन में कुछ गति बनाए रखी है और सुबह-शाम के एहसासात को जिंदा रखा है। हां इन सबके बीच सोचने या अपने ही अंदर भटकने के भरपूर अवसर मिल रहे हैं। जिसका परिणाम यह है कि अब स्थायित्व, वर्तमान, भविष्य, स्वप्न, जीवन और मृत्यु आदि से जुड़े अपने स्वयं के ही विचार शब्दों के जोड़-तोड़ मात्र नजर आने लगे हैं। शायद जीवन से जुड़ा कोई नया नजरिया विकसित हो रहा है, और मृत्यु से जुड़ा भी। और इस बात की जरूरत भी महसूस हो रही है कि एक बार समय निकाल कर सुकून से पीछे मुड़कर देखा जाए और फिर आगे के लिए पथ और गति दोनों ही का निर्धारण किया जाए। क्योंकि जॉन ऐलिया साहब के शब्दों में –

‘बेदिली क्या यूं ही दिन गुजर जाएंगे,
सिर्फ जिंदा रहे हम तो मर जाएंगे।’

(लेखक अजीम प्रेमजी फाउंडेशन, जयपुर राजस्थान से जुड़े हैं)